International Journal of Humanities and Social Science Research
www.socialsciencejournal.in
ISSN: 2455-2070
Received: 29-06-2026, Accepted: 29-07-2026, Published: 13-08-2026
Volume 12, Issue 3, 2026, Page No. 212-218

ब्रिटिश भारत और तिब्बत : सामरिक एवं व्यापारिक संबंधों का अध्ययन

रश्मि कुमारी [1], डॉ. मुकेश कुमार [2]
शोधार्थी, वि. वि. इतिहास विभाग, मुरारका कॉलेज, सुल्तानगंज, टी. एम. बी. यू. भागलपुर, बिहार, भारत
असिस्टेंट प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, मुरारका कॉलेज, सुल्तानगंज, टी. एम. बी. यू. भागलपुर, बिहार, भारत
DOI: https://doi.org/10.66856/ijhssr.2026.12.3.12282

सारांश
औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य विकसित सामरिक, राजनीतिक, कूटनीतिक तथा व्यापारिक संबंधों का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में तिब्बत ब्रिटिश साम्राज्य की उत्तर–पूर्वी सीमा सुरक्षा, मध्य एशिया की शक्ति–राजनीति तथा चीन और रूस के बढ़ते प्रभाव के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र बन गया था। ब्रिटिश शासन ने तिब्बत को एक सामरिक 'बफ़र क्षेत्र' के रूप में देखते हुए वहाँ व्यापारिक हितों के विस्तार, सीमा सुरक्षा तथा राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने के उद्देश्य से अनेक कूटनीतिक प्रयास, सैन्य अभियान और संधियाँ संपन्न कीं। 1903–04 का यंगहसबैंड अभियान, 1904 की ल्हासा संधि तथा 1914 का शिमला सम्मेलन ब्रिटिश–तिब्बत संबंधों के प्रमुख पड़ाव रहे, जिनका प्रभाव भारत–तिब्बत तथा बाद में भारत–चीन संबंधों पर भी दीर्घकालिक रूप से पड़ा। इसके साथ ही, भारत और तिब्बत के मध्य ऊन, नमक, चाय, पशु–उत्पाद तथा अन्य वस्तुओं का सीमा–पार व्यापार हिमालयी दर्रों के माध्यम से निरंतर संचालित होता रहा, जिसने दोनों क्षेत्रों के आर्थिक एवं सांस्कृतिक संबंधों को सुदृढ़ किया। यह अध्ययन औपनिवेशिक अभिलेखों, आधिकारिक दस्तावेजों तथा द्वितीयक ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि ब्रिटिश साम्राज्य की सामरिक नीतियों, व्यापारिक हितों तथा सीमा–निर्धारण की प्रक्रियाओं ने तिब्बत की राजनीतिक स्थिति और दक्षिण एशिया की क्षेत्रीय भू–राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया। साथ ही, शोध यह भी विश्लेषित करता है कि औपनिवेशिक काल में निर्मित सीमाएँ, व्यापारिक मार्ग तथा कूटनीतिक व्यवस्थाएँ स्वतंत्रता–उत्तर भारत–तिब्बत एवं भारत–चीन संबंधों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को किस प्रकार आकार प्रदान करती हैं। इस प्रकार यह अध्ययन ब्रिटिश भारत और तिब्बत के संबंधों को केवल व्यापार या सामरिक दृष्टि से नहीं, बल्कि औपनिवेशिक कूटनीति, हिमालयी भू–राजनीति, सीमा–निर्माण तथा क्षेत्रीय शक्ति–संतुलन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास करता है।

मुलशब्द: ब्रिटिश भारत, तिब्बत, सामरिक संबंध, व्यापारिक संबंध, औपनिवेशिक कूटनीति, हिमालयी राजनीति, ल्हासा संधि

ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य संबंध दक्षिण एशिया तथा हिमालयी क्षेत्र के औपनिवेशिक इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय हैं। यद्यपि भारत और तिब्बत के बीच प्राचीन काल से धार्मिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक संपर्क विद्यमान थे, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के साथ इन संबंधों का स्वरूप अधिक सामरिक, राजनीतिक तथा आर्थिक हो गया। ब्रिटिश शासन के लिए तिब्बत भारत की उत्तरी सीमाओं की सुरक्षा, मध्य एशिया में रूसी प्रभाव की रोकथाम तथा चीन के साथ शक्ति–संतुलन बनाए रखने की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र था। इसी कारण ब्रिटिश नीति–निर्माताओं ने तिब्बत को एक सामरिक 'बफ़र क्षेत्र' के रूप में विकसित करने का प्रयास किया तथा वहाँ अपने राजनीतिक एवं व्यापारिक प्रभाव को सुदृढ़ करने के लिए अनेक कूटनीतिक पहलें कीं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटिश साम्राज्य और रूस के मध्य चली शक्ति–प्रतिस्पर्धा, जिसे 'ग्रेट गेम' के नाम से जाना जाता है, ने तिब्बत के सामरिक महत्व को और अधिक बढ़ा दिया। इसी पृष्ठभूमि में 1903–04 का यंगहसबैंड अभियान, 1904 की ल्हासा संधि तथा 1914 का शिमला सम्मेलन जैसे महत्वपूर्ण घटनाक्रम सामने आए, जिन्होंने न केवल ब्रिटिश भारत और तिब्बत के संबंधों को प्रभावित किया, बल्कि आधुनिक भारत–चीन सीमा विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी तैयार की। सामरिक दृष्टि के साथ–साथ हिमालयी दर्रों के माध्यम से भारत और तिब्बत के बीच ऊन, नमक, चाय, पशु–उत्पाद, ऊनी वस्त्र तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का व्यापार भी निरंतर संचालित होता रहा, जिसने दोनों क्षेत्रों के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संबंधों को सुदृढ़ किया। ब्रिटिश शासन ने इन व्यापारिक मार्गों, सीमा चौकियों तथा संचार नेटवर्क पर नियंत्रण स्थापित कर अपने आर्थिक और सामरिक हितों की पूर्ति का प्रयास किया। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य विकसित सामरिक एवं व्यापारिक संबंधों, औपनिवेशिक कूटनीति, प्रमुख संधियों, सीमा–निर्धारण, व्यापारिक नेटवर्क तथा हिमालयी भू–राजनीति का ऐतिहासिक विश्लेषण करना है। साथ ही यह अध्ययन इस तथ्य को भी स्पष्ट करता है कि औपनिवेशिक काल में निर्मित नीतियों, सीमाओं और व्यापारिक व्यवस्थाओं का प्रभाव स्वतंत्रता–उत्तर भारत–तिब्बत तथा भारत–चीन संबंधों पर आज भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है, जिससे यह विषय समकालीन दक्षिण एशियाई राजनीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में विशेष रूप से प्रासंगिक बन जाता है।[1]

प्रस्तुत अध्ययन की प्रमुख शोध समस्या यह है कि ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य स्थापित सामरिक एवं व्यापारिक संबंधों का निर्माण किन औपनिवेशिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा भू–रणनीतिक परिस्थितियों में हुआ तथा इन संबंधों ने हिमालयी क्षेत्र की सीमा–निर्माण प्रक्रिया, औपनिवेशिक कूटनीति, व्यापारिक नेटवर्क और स्वतंत्रता–उत्तर भारतदृतिब्बत तथा भारत–चीन संबंधों को किस प्रकार प्रभावित किया। यह शोध विशेष रूप से इस प्रश्न का विश्लेषण करता है कि ब्रिटिश साम्राज्य ने तिब्बत को किस प्रकार एक सामरिक अवरोधक क्षेत्र के रूप में उपयोग किया, व्यापारिक हितों के विस्तार के लिए कौन–सी नीतियाँ अपनाईं तथा यंगहसबैंड अभियान, ल्हासा संधि और शिमला सम्मेलन जैसे घटनाक्रमों ने क्षेत्रीय राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया।[2] अध्ययन का उद्देश्य ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य सामरिक एवं व्यापारिक संबंधों के ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण करना, ब्रिटिश साम्राज्य की हिमालयी नीति एवं महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा (ग्रेट गेम) के प्रभावों का मूल्यांकन

करना, सीमा–निर्धारण एवं व्यापारिक मार्गों के विकास का अध्ययन करना तथा औपनिवेशिक नीतियों की स्वतंत्रता–उत्तर भारत–तिब्बत और भारत–चीन संबंधों पर पड़ने वाली दीर्घकालिक विरासत का परीक्षण करना है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शोध में ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक पद्धति का उपयोग किया गया है। अध्ययन मुख्यतः प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। प्राथमिक स्रोतों में भारत कार्यालय अभिलेख, विदेश कार्यालय के अभिलेख, ब्रिटिश संसद के अभिलेख एवं कार्यवृत्त, तिब्बती इतिहास–वृत्तांत, समकालीन प्रशासनिक अभिलेख, संधियाँ, आधिकारिक पत्राचार तथा यात्रियों एवं अन्वेषकों के यात्रा–वृत्तांत सम्मिलित हैं, जबकि द्वितीयक स्रोतों में प्रतिष्ठित इतिहासकारों की पुस्तकें, शोध–पत्र, सरकारी प्रकाशन, अभिलेखीय अध्ययन तथा हिमालयी भू–राजनीति, औपनिवेशिक इतिहास और भारत–तिब्बत संबंधों से संबंधित विद्वतापूर्ण साहित्य का समालोचनात्मक अध्ययन किया गया है। इन सभी स्रोतों के तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक विश्लेषण के माध्यम से ब्रिटिश भारत और तिब्बत के सामरिक एवं व्यापारिक संबंधों की ऐतिहासिक प्रकृति, औपनिवेशिक नीतियों तथा उनके दीर्घकालिक प्रभावों का समग्र मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।[3]

तिब्बत अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति, विशाल उच्च हिमालयी पठार, प्राकृतिक सीमाओं तथा मध्य एशिया, दक्षिण एशिया और पूर्वी एशिया के मध्य स्थित होने के कारण प्राचीन काल से ही सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा है। औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश भारत के लिए तिब्बत का महत्व और अधिक बढ़ गया, क्योंकि यह भारत की उत्तरी सीमा की सुरक्षा तथा एशिया में शक्ति–संतुलन की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण क्षेत्र माना जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी में मध्य एशिया में ब्रिटेन और रूस के मध्य बढ़ती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा ने तिब्बत को विशेष रणनीतिक महत्त्व प्रदान किया। ब्रिटिश सरकार को आशंका थी कि यदि रूस अथवा चीन तिब्बत में अपना प्रभाव स्थापित कर लेते हैं, तो भारत की सुरक्षा तथा ब्रिटिश साम्राज्य के हितों को गंभीर चुनौती उत्पन्न हो सकती है।[4] इसी कारण ब्रिटिश नीति का उद्देश्य तिब्बत को भारत और अन्य शक्तियों के मध्य एक अवरोधक क्षेत्र के रूप में बनाए रखना था। इस नीति के अंतर्गत ब्रिटिश शासन ने तिब्बत के साथ प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करने, व्यापारिक मार्गों को नियंत्रित करने, सीमावर्ती क्षेत्रों का सर्वेक्षण कराने तथा कूटनीतिक संबंधों को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। सिक्किम, दार्जिलिंग तथा हिमालयी दर्रों के माध्यम से तिब्बत तक पहुँचने वाले मार्गों को सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया। 1903–04 के यंगहसबैंड अभियान तथा उसके पश्चात संपन्न ल्हासा संधि और शिमला सम्मेलन ने तिब्बत की सामरिक स्थिति को अंतरराष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख विषय बना दिया। तिब्बत केवल सैन्य सुरक्षा का प्रश्न नहीं था, बल्कि यह व्यापार, संचार, सीमा–निर्धारण तथा हिमालयी भू–राजनीति का भी केंद्रीय तत्व था। यही कारण है कि ब्रिटिश भारत की उत्तरी सीमा से संबंधित अधिकांश नीतियाँ तिब्बत की राजनीतिक स्थिति और उसके सामरिक महत्व को ध्यान में रखकर निर्मित की गईं। स्वतंत्रता के पश्चात भी तिब्बत का सामरिक महत्व कम नहीं हुआ, बल्कि भारत–चीन संबंधों, सीमा–विवादों, हिमालयी सुरक्षा, सीमाई अवसंरचना तथा एशियाई शक्ति–संतुलन में इसकी भूमिका निरंतर बनी रही। इस प्रकार तिब्बत का सामरिक महत्व केवल औपनिवेशिक काल तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने आधुनिक दक्षिण एशियाई और एशियाई भू–राजनीति की दिशा तथा स्वरूप को भी गहराई से प्रभावित किया।[5]

ब्रिटिश भारत की तिब्बत नीति का विकास अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर भारत की स्वतंत्रता तक धीरे–धीरे बदलती हुई सामरिक, राजनीतिक और व्यापारिक आवश्यकताओं के आधार पर हुआ। 1774 में ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रतिनिधि जॉर्ज बोगल के तिब्बत मिशन से ब्रिटिश भारत और तिब्बत के बीच प्रत्यक्ष संपर्क की शुरुआत हुई। प्रारंभिक चरण में ब्रिटिशों का मुख्य उद्देश्य तिब्बत के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित करना, हिमालयी क्षेत्रों के माध्यम से व्यापारिक मार्गों का विस्तार करना तथा मध्य एशिया के बाजारों तक पहुँच प्राप्त करना था। अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ब्रिटिश नीति अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण एवं व्यापार–केंद्रित रही, किंतु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मध्य एशिया में ब्रिटेन और रूस के मध्य बढ़ती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा ने तिब्बत के महत्व को अत्यधिक बढ़ा दिया। इस काल में ब्रिटिश सरकार ने तिब्बत को भारत की उत्तरी सीमा की सुरक्षा के लिए एक महत्वपूर्ण अवरोधक क्षेत्र के रूप में देखना प्रारंभ किया। 1876 की चेकियांग संधि तथा 1890 की एंग्लो–चीनी संधि जैसे समझौतों के माध्यम से ब्रिटिशों ने तिब्बत और सिक्किम क्षेत्र में अपने प्रभाव को बढ़ाने का प्रयास किया।[6]

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ब्रिटिश भारत की तिब्बत नीति अधिक आक्रामक और सामरिक स्वरूप ग्रहण कर गई। रूस के संभावित विस्तार को रोकने और तिब्बत में ब्रिटिश प्रभाव स्थापित करने के उद्देश्य से 1903–04 में फ्रांसिस यंगहसबैंड के नेतृत्व में ब्रिटिश सैन्य अभियान ल्हासा तक पहुँचाया गया। इसके परिणामस्वरूप 1904 की ल्हासा संधि हुई, जिसके माध्यम से ब्रिटिशों ने तिब्बत में व्यापारिक अधिकार, व्यापारिक केंद्रों की स्थापना तथा राजनीतिक प्रभाव को मजबूत किया। इसके बाद 1906 की एंग्लोदृचीनी संधि और 1907 की एंग्लो–रूसी संधि ने तिब्बत के प्रश्न को अंतरराष्ट्रीय कूटनीति का महत्वपूर्ण विषय बना दिया। 1914 का शिमला सम्मेलन ब्रिटिश भारत की तिब्बत नीति का एक महत्वपूर्ण चरण था, जिसमें ब्रिटिश भारत, तिब्बत और चीन के प्रतिनिधियों ने सीमा निर्धारण एवं राजनीतिक संबंधों पर विचार किया। इसी सम्मेलन से संबंधित मैकमोहन रेखा ने आगे चलकर भारत–चीन सीमा विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार की।[7]

1930 और 1940 के दशक में ब्रिटिश भारत ने तिब्बत के साथ अपने व्यापारिक और कूटनीतिक संबंधों को बनाए रखा। कालिम्पोंग, दार्जिलिंग, सिक्किम तथा हिमालयी दर्रों के माध्यम से ऊन, नमक, चाय, पशु–उत्पाद और अन्य वस्तुओं का व्यापार जारी रहा। ब्रिटिश प्रशासन ने सीमावर्ती क्षेत्रों में राजनीतिक एजेंसियों, व्यापारिक चौकियों और संचार सुविधाओं का विकास कर तिब्बत पर अप्रत्यक्ष प्रभाव बनाए रखने का प्रयास किया। हालांकि ब्रिटिश नीति हमेशा तिब्बत को पूर्ण स्वतंत्र राजनीतिक इकाई के रूप में स्वीकार करने वाली नहीं थी, बल्कि उसका उद्देश्य चीन, रूस और अन्य शक्तियों के प्रभाव को संतुलित करते हुए भारत की सामरिक सुरक्षा सुनिश्चित करना था। 1947 में भारत की स्वतंत्रता के साथ ब्रिटिश भारत की तिब्बत नीति का अंत हुआ, किंतु उसके द्वारा निर्मित सीमा व्यवस्थाएँ, कूटनीतिक परंपराएँ और सामरिक दृष्टिकोण स्वतंत्र भारत की हिमालयी नीति तथा भारत–चीन संबंधों को लंबे समय तक प्रभावित करते रहे। इस प्रकार 1774 से 1947 तक ब्रिटिश भारत की तिब्बत नीति व्यापारिक संपर्कों से प्रारंभ होकर सामरिक नियंत्रण, सीमा–निर्माण और औपनिवेशिक शक्ति–संतुलन की व्यापक नीति में परिवर्तित हो गई, जिसने आधुनिक हिमालयी भू–राजनीति को महत्वपूर्ण रूप से आकार दिया।[8]

ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य प्रारंभिक राजनीतिक एवं व्यापारिक संपर्क स्थापित करने में वॉरेन हेस्टिंग्स और जॉर्ज बोगल मिशन की महत्वपूर्ण भूमिका रही। 1772 में बंगाल के गवर्नर–जनरल बनने के बाद वॉरेन हेस्टिंग्स ने ब्रिटिश भारत की सीमाओं के विस्तार और पड़ोसी क्षेत्रों के साथ कूटनीतिक संबंध स्थापित करने की नीति अपनाई। इसी उद्देश्य से 1774 में उन्होंने जॉर्ज बोगल को तिब्बत भेजा, जो ब्रिटिश भारत का पहला आधिकारिक कूटनीतिक मिशन था। बोगल का मुख्य उद्देश्य

तिब्बत के साथ व्यापारिक संबंधों की संभावनाओं का अध्ययन करना, हिमालयी व्यापारिक मार्गों की जानकारी प्राप्त करना तथा तिब्बत और भूटान के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करना था। बोगल ने तिब्बत के पंचेन लामा के दरबार में रहकर वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक स्थिति, सामाजिक जीवन और व्यापारिक संभावनाओं का विस्तृत अध्ययन किया। यद्यपि यह मिशन तत्काल किसी स्थायी व्यापारिक संधि को स्थापित करने में सफल नहीं हुआ, फिर भी इसने ब्रिटिशों को तिब्बत के भूगोल, राजनीति और व्यापारिक संरचना की महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान की। हेस्टिंग्स की यह पहल आगे चलकर ब्रिटिश भारत की तिब्बत नीति की आधारशिला बनी, जिसमें व्यापारिक विस्तार, कूटनीतिक संपर्क और हिमालयी क्षेत्रों में सामरिक प्रभाव स्थापित करने के उद्देश्य निहित थे। जॉर्ज बोगल के यात्रा–वृत्तांतों और रिपोर्टों ने ब्रिटिश प्रशासन को तिब्बत के प्रति भविष्य की नीतियों के निर्माण में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की और अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत–तिब्बत संबंधों के एक नए चरण का प्रारंभ किया।[9]

ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य प्रारम्भिक संपर्कों के इतिहास में थॉमस मैनिंग का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। थॉमस मैनिंग एक ब्रिटिश विद्वान, चिकित्सक और यात्री थे, जिन्होंने तिब्बत के साथ प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करने का प्रयास किया। 1811 में उन्होंने चीन के मार्ग से तिब्बत की यात्रा की और ल्हासा पहुँचने वाले प्रथम ब्रिटिश यात्रियों में सम्मिलित हुए। उस समय तिब्बत बाहरी शक्तियों के प्रति अत्यंत सीमित संपर्क रखने वाला क्षेत्र था, इसलिए मैनिंग की यात्रा ब्रिटिश प्रशासन के लिए विशेष महत्व रखती थी। उन्होंने तिब्बत की राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक संस्थाओं, सामाजिक जीवन, भौगोलिक परिस्थितियों तथा वहाँ की शासन प्रणाली का प्रत्यक्ष अध्ययन किया। यद्यपि उनका उद्देश्य किसी औपचारिक राजनीतिक संधि या व्यापारिक समझौते की स्थापना करना नहीं था, फिर भी उनके यात्रा–विवरणों ने ब्रिटिश अधिकारियों को तिब्बत की वास्तविक परिस्थितियों को समझने में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की। मैनिंग ने तिब्बती समाज, दलाई लामा की संस्था तथा ल्हासा की राजनीतिक संरचना के संबंध में जो जानकारियाँ प्रस्तुत कीं, वे आगे चलकर ब्रिटिश तिब्बत नीति के निर्माण में उपयोगी सिद्ध हुईं। उनकी यात्रा ने ब्रिटिशों के समक्ष यह स्पष्ट किया कि तिब्बत केवल धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र नहीं था, बल्कि हिमालयी भू–राजनीति, व्यापारिक मार्गों और भारत की उत्तरी सुरक्षा के संदर्भ में भी अत्यंत महत्वपूर्ण था। इस प्रकार थॉमस मैनिंग का संपर्क ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य प्रारम्भिक ज्ञान–विनिमय, कूटनीतिक समझ तथा भविष्य के राजनीतिक संबंधों के विकास में एक महत्वपूर्ण चरण सिद्ध हुआ। उनके अनुभवों ने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के बीच ब्रिटिश नीति–निर्माताओं को तिब्बत के प्रति अधिक व्यवस्थित और रणनीतिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए आधार प्रदान किया।[10]

यंगहसबैंड अभियान (1903–04) ब्रिटिश भारत और तिब्बत के संबंधों के इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना थी, जिसने न केवल औपनिवेशिक काल की हिमालयी राजनीति को प्रभावित किया, बल्कि दक्षिण एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य की सामरिक सोच को भी नई दिशा प्रदान की। इस अभियान का नेतृत्व ब्रिटिश अधिकारी कर्नल फ्रांसिस यंगहसबैंड ने किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में तिब्बत ब्रिटिश साम्राज्य के लिए केवल एक पड़ोसी क्षेत्र नहीं रह गया था, बल्कि यह भारत की उत्तरी सुरक्षा, मध्य एशिया में शक्ति–संतुलन और साम्राज्यवादी हितों की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण बन गया था। इस समय ब्रिटेन और रूस के मध्य मध्य एशिया में प्रभुत्व स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा चल रही थी, जिसे इतिहास में 'ग्रेट गेम' के नाम से जाना जाता है। ब्रिटिश नीति–निर्माताओं को आशंका थी कि रूस तिब्बत के माध्यम से भारत की सीमाओं के निकट अपना प्रभाव स्थापित कर सकता है, जिससे ब्रिटिश भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार तिब्बत के साथ व्यापारिक संबंधों का विस्तार करना चाहती थी और हिमालयी व्यापारिक मार्गों, विशेषकर सिक्किम, भूटान तथा लद्दाख से होकर जाने वाले मार्गों पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहती थी। तिब्बत द्वारा बाहरी शक्तियों के साथ सीमित संपर्क रखने और ब्रिटिश प्रस्तावों के प्रति अनिच्छा दिखाने के कारण ब्रिटिश प्रशासन ने अधिक सक्रिय नीति अपनाने का निर्णय लिया। इस प्रकार यंगहसबैंड अभियान के पीछे सामरिक सुरक्षा, व्यापारिक हित, कूटनीतिक प्रभाव विस्तार और मध्य एशियाई शक्ति–संतुलन जैसे अनेक उद्देश्य निहित थे।[11]

1903 में कर्नल फ्रांसिस यंगहसबैंड के नेतृत्व में ब्रिटिश भारत से एक सैन्य–कूटनीतिक मिशन तिब्बत की ओर भेजा गया। प्रारंभ में इस अभियान का उद्देश्य तिब्बती अधिकारियों के साथ बातचीत स्थापित करना और व्यापारिक तथा राजनीतिक समझौते प्राप्त करना था, लेकिन परिस्थितियाँ शीघ्र ही तनावपूर्ण हो गईं। ब्रिटिश दल सिक्किम के मार्ग से तिब्बत में प्रवेश करता हुआ चुम्बी घाटी और ग्यांत्से की ओर बढ़ा। तिब्बती अधिकारियों और स्थानीय सेनाओं ने ब्रिटिश आगे बढ़ने का विरोध किया, जिसके परिणामस्वरूप कई स्थानों पर संघर्ष हुए। ब्रिटिश सेना आधुनिक हथियारों और सैन्य संगठन के कारण तिब्बती सेना पर भारी पड़ी। ग्यांत्से का संघर्ष इस अभियान का प्रमुख सैन्य चरण था, जहाँ तिब्बती प्रतिरोध को पराजित करने के बाद ब्रिटिश सेना अगस्त 1904 में ल्हासा तक पहुँच गई। ल्हासा पहुँचने के बाद ब्रिटिश प्रतिनिधियों और तिब्बती अधिकारियों के मध्य वार्ता हुई, जिसके परिणामस्वरूप 1904 में ल्हासा संधि संपन्न हुई। इस संधि के अंतर्गत ब्रिटिश भारत को तिब्बत में व्यापारिक अधिकार प्राप्त हुए, कुछ व्यापारिक केंद्रों की स्थापना की अनुमति मिली तथा ब्रिटिशों ने तिब्बत के साथ अपने राजनीतिक संपर्कों को मजबूत किया। यद्यपि अभियान का उद्देश्य तिब्बत पर प्रत्यक्ष अधिकार स्थापित करना नहीं था, फिर भी इसने ब्रिटिश प्रभाव को हिमालयी क्षेत्र में महत्वपूर्ण रूप से बढ़ा दिया।[12]

यंगहसबैंड अभियान के परिणाम राजनीतिक, आर्थिक और सामरिक दृष्टि से अत्यंत व्यापक रहे। इस अभियान ने ब्रिटिश भारत की तिब्बत नीति को अधिक सक्रिय और हस्तक्षेपकारी स्वरूप प्रदान किया तथा तिब्बत को अंतरराष्ट्रीय राजनीति के एक महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में स्थापित किया। ल्हासा संधि के माध्यम से ब्रिटिशों ने तिब्बत में व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कीं और भारतदृतिब्बत व्यापारिक संबंधों को अपने नियंत्रण में लाने का प्रयास किया। हालांकि चीन ने तिब्बत पर अपनी पारंपरिक अधीनता का दावा बनाए रखा और बाद में ब्रिटेन को तिब्बत संबंधी मामलों में चीन की भूमिका को स्वीकार करना पड़ा, फिर भी इस अभियान ने ब्रिटिश प्रभाव को मजबूत किया। इसके पश्चात 1906 की एंग्लो–चीनी संधि और 1907 की एंग्लो–रूसी संधि के माध्यम से ब्रिटेन ने तिब्बत के प्रश्न को अंतरराष्ट्रीय कूटनीतिक ढाँचे में शामिल किया। दीर्घकालीन रूप से इस अभियान ने हिमालयी सीमा–निर्धारण, ब्रिटिश भारत की उत्तरी सुरक्षा नीति और भारत–तिब्बत संबंधों को प्रभावित किया। 1914 का शिमला सम्मेलन और मैकमोहन रेखा के निर्धारण की पृष्ठभूमि भी इसी औपनिवेशिक नीति से जुड़ी हुई थी। यद्यपि यंगहसबैंड अभियान को तिब्बती दृष्टिकोण से एक बाहरी सैन्य हस्तक्षेप के रूप में देखा गया, वहीं ब्रिटिश दृष्टि से यह भारत की सुरक्षा और साम्राज्यवादी हितों की रक्षा का माध्यम था। इस प्रकार यंगहसबैंड अभियान केवल एक सैन्य अभियान नहीं था, बल्कि यह औपनिवेशिक सामरिक नीति, व्यापारिक विस्तार, सीमा–राजनीति और हिमालयी शक्ति–संतुलन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण था, जिसका प्रभाव आधुनिक एशियाई भू–राजनीति तक दिखाई देता है।[13]

1904 का ल्हासा समझौता ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य संबंधों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक एवं व्यापारिक समझौता था, जो यंगहसबैंड अभियान (1903–04) के परिणामस्वरूप संपन्न हुआ। इस समझौते का मुख्य उद्देश्य तिब्बत में ब्रिटिश प्रभाव स्थापित करना, व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करना तथा हिमालयी क्षेत्र में ब्रिटिश सामरिक हितों को सुरक्षित करना था। यंगहसबैंड के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना के ल्हासा पहुँचने के बाद 7 सितंबर 1904 को तिब्बती अधिकारियों और ब्रिटिश प्रतिनिधियों के मध्य यह समझौता किया गया। ब्रिटिश सरकार का तर्क था कि तिब्बत द्वारा बाहरी शक्तियों के साथ संपर्क सीमित रखने और ब्रिटिश व्यापारिक प्रस्तावों को स्वीकार न करने के कारण यह हस्तक्षेप आवश्यक था, जबकि तिब्बती दृष्टिकोण से यह समझौता सैन्य दबाव में स्वीकार किया गया एक असमान समझौता था। ल्हासा समझौते के अंतर्गत ब्रिटिश भारत को तिब्बत में व्यापारिक अधिकार प्रदान किए गए तथा याटुंग, ग्यांत्से और गरतोक जैसे स्थानों पर व्यापारिक केंद्र स्थापित करने की अनुमति मिली। इसके अतिरिक्त तिब्बत को ब्रिटिश भारत के साथ व्यापारिक संबंधों को बढ़ाने, व्यापारिक मार्गों को सुरक्षित रखने तथा विदेशी शक्तियों के साथ ऐसे समझौते न करने के लिए बाध्य किया गया, जो ब्रिटिश हितों के प्रतिकूल हों। समझौते में क्षतिपूर्ति की शर्त भी शामिल थी, जिसके अंतर्गत तिब्बत को ब्रिटिश अभियान के व्यय की भरपाई करनी थी। इस समझौते ने ब्रिटिश भारत को तिब्बत के व्यापार और राजनीतिक मामलों में प्रत्यक्ष प्रभाव स्थापित करने का अवसर प्रदान किया।14

ल्हासा समझौते के परिणामस्वरूप ब्रिटिश भारत और तिब्बत के बीच व्यापारिक संपर्कों में वृद्धि हुई तथा हिमालयी क्षेत्रों में ब्रिटिश सामरिक स्थिति मजबूत हुई। हालांकि इस समझौते ने चीन, ब्रिटेन और तिब्बत के बीच राजनीतिक संबंधों को जटिल बना दिया, क्योंकि चीन तिब्बत पर अपनी पारंपरिक अधीनता का दावा करता था और ब्रिटिश हस्तक्षेप को लेकर चिंतित था। इसी कारण 1906 की एंग्लो–चीनी संधि के माध्यम से ब्रिटेन ने चीन की तिब्बत पर औपचारिक अधिपत्य की स्थिति को स्वीकार किया, जबकि चीन ने ब्रिटिश व्यापारिक हितों को मान्यता दी। ऐतिहासिक दृष्टि से 1904 का ल्हासा समझौता केवल एक व्यापारिक संधि नहीं था, बल्कि यह ब्रिटिश साम्राज्य की हिमालयी नीति, औपनिवेशिक कूटनीति और तिब्बत के सामरिक महत्व का प्रतीक था। इस समझौते ने आगे चलकर 1914 के शिमला सम्मेलन, सीमा–निर्धारण की प्रक्रिया तथा आधुनिक भारत–चीन संबंधों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी प्रभावित किया।15

1906 की एंग्लो–चीनी संधि और 1907 की एंग्लो–रूसी संधि ब्रिटिश भारत की तिब्बत नीति के महत्वपूर्ण चरण थे, जिनका उद्देश्य यंगहसबैंड अभियान (1903–04) और 1904 के ल्हासा समझौते के बाद उत्पन्न राजनीतिक परिस्थितियों को नियंत्रित करना तथा तिब्बत के प्रश्न पर अंतरराष्ट्रीय शक्ति–संतुलन स्थापित करना था। 1904 के ल्हासा समझौते के बाद चीन ने ब्रिटिश हस्तक्षेप और तिब्बत में बढ़ते ब्रिटिश प्रभाव को लेकर चिंता व्यक्त की। ब्रिटेन भी यह नहीं चाहता था कि तिब्बत का प्रश्न रूस या किसी अन्य यूरोपीय शक्ति के साथ संघर्ष का कारण बने। इसी संदर्भ में 1906 में ब्रिटेन और चीन के मध्य एक समझौता संपन्न हुआ, जिसे एंग्लो–चीनी संधि (1906) के नाम से जाना जाता है। इस समझौते के माध्यम से ब्रिटेन ने तिब्बत पर चीन की पारंपरिक अधीनता को स्वीकार किया और यह आश्वासन दिया कि वह तिब्बत को अपने अधिकार में लेने अथवा वहाँ स्थायी राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास नहीं करेगा। इसके बदले चीन ने 1904 के ल्हासा समझौते में प्राप्त ब्रिटिश व्यापारिक अधिकारों और सुविधाओं को मान्यता दी। इस प्रकार 1906 का समझौता ब्रिटिश साम्राज्य की उस नीति को दर्शाता है, जिसके अंतर्गत वह तिब्बत में प्रत्यक्ष शासन स्थापित किए बिना अपने सामरिक और व्यापारिक हितों को सुरक्षित रखना चाहता था।16

1907 की एंग्लो–रूसी संधि तिब्बत के संदर्भ में और भी महत्वपूर्ण थी, क्योंकि इसका संबंध मध्य एशिया में ब्रिटेन और रूस के मध्य लंबे समय से चली आ रही प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने से था। इस समझौते के अंतर्गत दोनों शक्तियों ने तिब्बत के संबंध में पारस्परिक समझ विकसित की और यह सहमति व्यक्त की कि वे तिब्बत के आंतरिक मामलों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं करेंगे तथा चीन के माध्यम से ही तिब्बत से संबंधित विषयों पर कार्य करेंगे। इस संधि का उद्देश्य 'ग्रेट गेम' के कारण उत्पन्न तनाव को कम करना और मध्य एशिया में शक्ति–संतुलन बनाए रखना था।[17] ब्रिटेन के लिए यह आवश्यक था कि रूस तिब्बत के माध्यम से भारत के निकट अपना प्रभाव न बढ़ा सके, जबकि रूस भी मध्य एशिया में अपने हितों को सुरक्षित रखना चाहता था। इन दोनों समझौतों के परिणामस्वरूप तिब्बत का प्रश्न ब्रिटेन, चीन और रूस के मध्य अंतरराष्ट्रीय कूटनीति का विषय बन गया। 1906 और 1907 के समझौतों ने ब्रिटिश भारत की तिब्बत नीति को एक नए स्वरूप में परिवर्तित किया, जिसमें प्रत्यक्ष सैन्य हस्तक्षेप की अपेक्षा कूटनीतिक नियंत्रण, व्यापारिक हितों की सुरक्षा और सामरिक संतुलन पर अधिक बल दिया गया। हालांकि इन समझौतों ने तिब्बत की स्वायत्त राजनीतिक स्थिति को जटिल बनाया, क्योंकि एक ओर चीन ने अपना अधिकार बनाए रखा और दूसरी ओर ब्रिटेन ने व्यापारिक एवं सामरिक प्रभाव कायम रखा। आगे चलकर 1914 के शिमला सम्मेलन और मैकमोहन रेखा के निर्धारण की पृष्ठभूमि भी इन्हीं औपनिवेशिक कूटनीतिक प्रक्रियाओं से जुड़ी हुई थी। इस प्रकार 1906 एवं 1907 के समझौते ब्रिटिश भारत, तिब्बत और मध्य एशियाई शक्ति–संतुलन के इतिहास में महत्वपूर्ण मील के पत्थर सिद्ध हुए।[18]

1914 का शिमला सम्मेलन ब्रिटिश भारत, तिब्बत और चीन के मध्य राजनीतिक संबंधों, सीमा–निर्धारण और हिमालयी क्षेत्र की सामरिक स्थिति से संबंधित एक अत्यंत महत्वपूर्ण कूटनीतिक घटना थी। यह सम्मेलन अक्टूबर 1913 से जुलाई 1914 तक शिमला में आयोजित किया गया, जिसमें ब्रिटिश भारत की ओर से विदेश सचिव सर हेनरी मैकमोहन, तिब्बत की ओर से लोनचेन शात्रा तथा चीन की ओर से प्रतिनिधि इवान चेन ने भाग लिया। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य तिब्बत की राजनीतिक स्थिति को स्पष्ट करना, ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य सीमा का निर्धारण करना तथा चीन, तिब्बत और ब्रिटिश भारत के बीच संबंधों को व्यवस्थित करना था। 1904 के ल्हासा समझौते, 1906 के एंग्लो–चीनी समझौते और 1907 के एंग्लो–रूसी समझौते के बाद तिब्बत का प्रश्न अंतरराष्ट्रीय कूटनीति का महत्वपूर्ण विषय बन गया था। ब्रिटिश भारत तिब्बत को एक ऐसे क्षेत्र के रूप में देखता था, जो भारत की उत्तरी सुरक्षा और मध्य एशिया में शक्ति–संतुलन के लिए अत्यंत आवश्यक था। इसलिए ब्रिटिश सरकार तिब्बत की बाहरी स्वायत्तता को बनाए रखते हुए अपने सामरिक हितों को सुरक्षित करना चाहती थी।[18]

शिमला सम्मेलन में तिब्बत को आंतरिक और बाह्य तिब्बत के रूप में विभाजित करने का प्रस्ताव रखा गया। ब्रिटिश पक्ष ने तिब्बत की आंतरिक स्वायत्तता को बनाए रखने तथा चीन की सीमित राजनीतिक भूमिका को स्वीकार करने का प्रयास किया। सम्मेलन के दौरान ब्रिटिश भारत और तिब्बत के प्रतिनिधियों के मध्य सीमा निर्धारण पर सहमति बनी, जिसे बाद में मैकमोहन रेखा के नाम से जाना गया। इस सीमा रेखा का निर्धारण सर हेनरी मैकमोहन ने किया था, जो लगभग 890 किलोमीटर लंबी थी और ब्रिटिश भारत तथा तिब्बत के बीच पूर्वी हिमालयी सीमा को निर्धारित करती थी। यह रेखा वर्तमान अरुणाचल प्रदेश और तिब्बत स्वायत्त क्षेत्र के मध्य सीमा निर्धारण का आधार बनी।19 अप्रैल 1914 में ब्रिटिश भारत और तिब्बत के प्रतिनिधियों ने समझौते पर

हस्ताक्षर किए, लेकिन चीन के प्रतिनिधि ने अंतिम समझौते को स्वीकार नहीं किया और बाद में इससे अलग हो गया। मैकमोहन रेखा का ऐतिहासिक महत्व अत्यधिक व्यापक है। ब्रिटिश भारत के लिए यह रेखा हिमालयी सीमाओं की सुरक्षा, प्रशासनिक नियंत्रण और सामरिक हितों की दृष्टि से महत्वपूर्ण थी। वहीं चीन ने लंबे समय तक इस समझौते और मैकमोहन रेखा की वैधता को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसका मत था कि तिब्बत को स्वतंत्र रूप से ऐसे समझौते करने का अधिकार नहीं था। यही विवाद आगे चलकर भारतदृचीन सीमा विवाद का एक प्रमुख आधार बना। 1962 के भारत–चीन युद्ध के संदर्भ में भी मैकमोहन रेखा एक केंद्रीय मुद्दा रही। ऐतिहासिक दृष्टि से 1914 का शिमला सम्मेलन केवल सीमा निर्धारण का प्रयास नहीं था, बल्कि यह ब्रिटिश साम्राज्य की हिमालयी कूटनीति, तिब्बत की राजनीतिक स्थिति और एशियाई शक्ति–संतुलन का महत्वपूर्ण उदाहरण था। इस सम्मेलन और मैकमोहन रेखा ने स्वतंत्रता–उत्तर भारत की विदेश नीति, सीमा सुरक्षा और भारतदृचीन संबंधों को गहराई से प्रभावित किया।[20]

भारत और तिब्बत के मध्य व्यापारिक संबंध प्राचीन काल से ही विद्यमान थे, लेकिन ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में इन व्यापारिक मार्गों का महत्व आर्थिक के साथ–साथ सामरिक दृष्टि से भी अत्यधिक बढ़ गया। हिमालयी क्षेत्र के दुर्गम भू–भाग के बावजूद भारत और तिब्बत के मध्य अनेक पारंपरिक व्यापारिक मार्ग विकसित हुए थे, जिनके माध्यम से दोनों क्षेत्रों के व्यापारी वस्तुओं, विचारों और सांस्कृतिक परंपराओं का आदान–प्रदान करते थे। ब्रिटिश भारत के लिए ये व्यापारिक मार्ग केवल आर्थिक अवसरों का माध्यम नहीं थे, बल्कि तिब्बत और मध्य एशिया में राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने तथा भारत की उत्तरी सीमाओं की सुरक्षा सुनिश्चित करने का साधन भी थे। 1904 के ल्हासा समझौते के बाद ब्रिटिशों को तिब्बत में व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हुईं, जिसके परिणामस्वरूप प्रमुख व्यापारिक केंद्रों और मार्गों का विकास हुआ।[21]

कालिम्पोंग ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य व्यापार का एक प्रमुख केंद्र बनकर उभरा। दार्जिलिंग क्षेत्र के निकट स्थित कालिम्पोंग भौगोलिक दृष्टि से भारत और तिब्बत के बीच संपर्क का महत्वपूर्ण द्वार था। यहाँ से होकर ऊन, नमक, घोड़े, चाय, रेशम, अनाज, औषधीय वनस्पतियाँ, पशु–उत्पाद तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का व्यापार होता था। कालिम्पोंग न केवल व्यापारिक गतिविधियों का केंद्र था, बल्कि यह तिब्बती व्यापारियों, भारतीय व्यापारियों और ब्रिटिश अधिकारियों के बीच संपर्क का प्रमुख स्थल भी था। ब्रिटिश प्रशासन ने इस क्षेत्र में व्यापारिक सुविधाओं, संचार व्यवस्था और प्रशासनिक नियंत्रण को विकसित कर अपने प्रभाव को मजबूत किया। ग्यांत्से तिब्बत का एक अत्यंत महत्वपूर्ण व्यापारिक और सामरिक केंद्र था। 1904 के ल्हासा समझौते के बाद ब्रिटिश भारत को ग्यांत्से में व्यापारिक केंद्र स्थापित करने की अनुमति मिली।[22] यह स्थान भारत से ल्हासा जाने वाले प्रमुख मार्गों में स्थित था और भारत–तिब्बत व्यापार के लिए एक महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में कार्य करता था। ग्यांत्से के माध्यम से ऊनी वस्त्र, चाय, धातु उत्पाद, अनाज और अन्य व्यापारिक वस्तुओं का आदान–प्रदान होता था। ब्रिटिशों ने यहाँ व्यापारिक एजेंसी स्थापित कर तिब्बती बाजारों पर अपनी आर्थिक और राजनीतिक उपस्थिति को मजबूत किया। याटुंग चुम्बी घाटी में स्थित एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र था, जो सिक्किम के माध्यम से भारत और तिब्बत को जोड़ता था।23 1904 के ल्हासा समझौते के बाद याटुंग को व्यापारिक केंद्र के रूप में विकसित किया गया। यह मार्ग विशेष रूप से भारत से तिब्बत तक वस्तुओं के परिवहन के लिए उपयोगी था। याटुंग मार्ग से चाय, कपड़ा, नमक, ऊन और अन्य आवश्यक वस्तुओं का व्यापार होता था।[24] इसकी भौगोलिक स्थिति के कारण यह ब्रिटिश भारत के लिए सामरिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था, क्योंकि यह हिमालयी सीमा क्षेत्र में ब्रिटिश गतिविधियों को सुगम बनाता था। गार्टोक पश्चिमी तिब्बत का एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र था, जो लद्दाख और हिमालयी क्षेत्रों के माध्यम से भारत से जुड़ा हुआ था। यह विशेष रूप से कैलाश–मानसरोवर क्षेत्र के निकट स्थित होने के कारण धार्मिक और व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था। गार्टोक के माध्यम से भारत और तिब्बत के बीच ऊन, नमक, पशु, अनाज तथा अन्य स्थानीय उत्पादों का व्यापार होता था। लद्दाख के व्यापारी इस मार्ग का उपयोग लंबे समय से करते आ रहे थे और ब्रिटिश काल में भी यह मार्ग पश्चिमी हिमालयी व्यापार का महत्वपूर्ण हिस्सा बना रहा।[25]

इस प्रकार कालिम्पोंग, ग्यांत्से, याटुंग और गार्टोक जैसे व्यापारिक केंद्र भारत–तिब्बत संबंधों के आर्थिक आधार स्तंभ थे। इन मार्गों ने न केवल वस्तुओं के आदान–प्रदान को बढ़ावा दिया, बल्कि दोनों क्षेत्रों के मध्य सामाजिक और सांस्कृतिक संपर्क को भी मजबूत किया। ब्रिटिश शासन ने इन व्यापारिक मार्गों को अपने साम्राज्यवादी हितों के अनुरूप विकसित किया और इनके माध्यम से तिब्बत में आर्थिक प्रभाव तथा सामरिक उपस्थिति स्थापित करने का प्रयास किया। स्वतंत्रता के बाद इन पारंपरिक व्यापारिक मार्गों का महत्व राजनीतिक परिस्थितियों के कारण परिवर्तित हुआ, लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से ये मार्ग भारत–तिब्बत संबंधों, हिमालयी अर्थव्यवस्था और औपनिवेशिक भू–राजनीति के महत्वपूर्ण प्रतीक बने रहे।[26]

भारत और तिब्बत के मध्य औपनिवेशिक काल में ऊन, नमक, चाय एवं घोड़ों का व्यापार आर्थिक तथा सामरिक संबंधों का महत्वपूर्ण आधार था। हिमालयी व्यापार मार्गों, विशेषकर कालिम्पोंग, सिक्किम, लद्दाख, ग्यांत्से, याटुंग और गार्टोक के माध्यम से दोनों क्षेत्रों के व्यापारी वस्तुओं का आदान–प्रदान करते थे।[27] तिब्बत से मुख्य रूप से ऊन, पश्मीना, नमक, याक के बाल, चमड़ा तथा अन्य पशु–उत्पाद भारत लाए जाते थे, जबकि भारत से चाय, अनाज, कपड़ा, मसाले, धातु उत्पाद और दैनिक उपयोग की वस्तुएँ तिब्बत भेजी जाती थीं। तिब्बती पठार की भौगोलिक परिस्थितियों और पशुपालन आधारित अर्थव्यवस्था के कारण ऊन और नमक वहाँ के प्रमुख व्यापारिक उत्पाद थे, जिनकी भारतीय बाजारों में विशेष माँग थी।[28] चाय का व्यापार भी अत्यंत महत्वपूर्ण था, क्योंकि तिब्बती समाज में चाय दैनिक जीवन का आवश्यक हिस्सा थी और ब्रिटिश भारत ने असम तथा बंगाल की चाय को तिब्बती बाजारों तक पहुँचाने के लिए व्यापारिक मार्गों का विस्तार किया।[29] इसके अतिरिक्त घोड़ों का व्यापार भी दोनों क्षेत्रों के संबंधों में विशेष स्थान रखता था, क्योंकि तिब्बती और मध्य एशियाई घोड़े परिवहन, व्यापार तथा सैन्य आवश्यकताओं के लिए उपयोगी माने जाते थे। 1904 के ल्हासा समझौते के बाद ब्रिटिश प्रशासन ने इन व्यापारिक गतिविधियों को नियंत्रित और संगठित करने के लिए ग्यांत्से, याटुंग और गार्टोक जैसे व्यापारिक केंद्रों को विकसित किया। इस व्यापार ने न केवल ब्रिटिश भारत और तिब्बत के बीच आर्थिक संबंधों को मजबूत किया, बल्कि हिमालयी क्षेत्रों में सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संपर्कों को भी बढ़ावा दिया। इस प्रकार ऊन, नमक, चाय एवं घोड़ों का व्यापार भारत–तिब्बत संबंधों की आर्थिक संरचना का एक महत्वपूर्ण आधार था, जिसने औपनिवेशिक काल में हिमालयी क्षेत्र की अर्थव्यवस्था और भू–राजनीति को गहराई से प्रभावित किया।[30]

ग्रेट गेम उन्नीसवीं शताब्दी में मध्य एशिया में ब्रिटेन और रूस के मध्य चलने वाली राजनीतिक एवं सामरिक प्रतिस्पर्धा को कहा जाता है, जिसका उद्देश्य क्षेत्र में प्रभाव, सुरक्षा और शक्ति–संतुलन स्थापित करना था। ब्रिटिश भारत के संदर्भ में यह प्रतिस्पर्धा अत्यंत महत्वपूर्ण थी, क्योंकि ब्रिटिश प्रशासन को आशंका थी कि रूस मध्य एशिया के मार्ग से आगे बढ़कर भारत की उत्तरी

सीमाओं के निकट अपना प्रभाव स्थापित कर सकता है। इस कारण तिब्बत, अफगानिस्तान, नेपाल और हिमालयी क्षेत्र ब्रिटिश सामरिक नीति के प्रमुख केंद्र बन गए। ब्रिटिशों ने तिब्बत को भारत और संभावित रूसी विस्तार के बीच एक महत्वपूर्ण अवरोधक क्षेत्र के रूप में देखा तथा वहाँ अपने राजनीतिक और व्यापारिक प्रभाव को बढ़ाने का प्रयास किया। वॉरेन हेस्टिंग्स के समय प्रारंभ हुए तिब्बत संबंधी संपर्कों को उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अधिक संगठित रूप मिला, जब ब्रिटिश भारत ने व्यापारिक मिशनों, राजनीतिक समझौतों और सैन्य अभियानों के माध्यम से हिमालयी क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति मजबूत की।31 1903–04 का यंगहसबैंड अभियान इसी सामरिक सोच का परिणाम था, जिसके माध्यम से ब्रिटेन ने तिब्बत में रूसी प्रभाव की संभावनाओं को समाप्त करने और अपने हितों को सुरक्षित करने का प्रयास किया। इसके बाद 1904 का ल्हासा समझौता, 1906 का एंग्लो–चीनी समझौता और 1907 की एंग्लो–रूसी संधि ने तिब्बत को अंतरराष्ट्रीय कूटनीति के केंद्र में ला दिया। ब्रिटिश नीति का उद्देश्य तिब्बत पर प्रत्यक्ष शासन स्थापित करना नहीं, बल्कि उसे एक ऐसे क्षेत्र के रूप में बनाए रखना था जहाँ किसी प्रतिद्वंद्वी शक्ति का प्रभाव भारत की सुरक्षा के लिए चुनौती न बन सके। इस प्रकार ग्रेट गेम ने ब्रिटिश भारत की हिमालयी नीति, सीमा–निर्धारण प्रक्रिया और पड़ोसी क्षेत्रों के साथ संबंधों को गहराई से प्रभावित किया तथा आधुनिक दक्षिण एशियाई भू–राजनीति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार की।[32]

ब्रिटिश भारत की तिब्बत संबंधी कूटनीति उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में चीन, रूस और तिब्बत के बीच शक्ति–संतुलन बनाए रखने की व्यापक साम्राज्यवादी रणनीति का हिस्सा थी। ब्रिटिश सरकार के लिए तिब्बत केवल एक पड़ोसी क्षेत्र नहीं था, बल्कि भारत की उत्तरी सुरक्षा, मध्य एशिया में प्रभाव विस्तार और रूस के संभावित प्रसार को रोकने की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण था। 'ग्रेट गेम' की पृष्ठभूमि में ब्रिटेन को आशंका थी कि रूस मध्य एशिया के मार्ग से तिब्बत में अपना प्रभाव स्थापित कर सकता है, जिससे भारत की सुरक्षा प्रभावित हो सकती है। इसी कारण ब्रिटिश भारत ने तिब्बत के साथ व्यापारिक और राजनीतिक संपर्क बढ़ाने का प्रयास किया तथा चीन के साथ कूटनीतिक संतुलन बनाए रखने की नीति अपनाई।[33] प्रारंभ में ब्रिटेन ने चीन को तिब्बत का पारंपरिक संरक्षक मानते हुए प्रत्यक्ष टकराव से बचने का प्रयास किया, लेकिन 1903–04 के यंगहसबैंड अभियान के बाद तिब्बत में उसका प्रभाव अधिक मजबूत हो गया।34 1906 के एंग्लो–चीनी समझौते के माध्यम से ब्रिटेन ने तिब्बत पर चीन की पारंपरिक अधीनता को स्वीकार किया, जबकि चीन ने ब्रिटिश व्यापारिक अधिकारों को मान्यता दी। दूसरी ओर, रूस के संदर्भ में ब्रिटिश नीति का मुख्य उद्देश्य उसके प्रभाव को सीमित करना था, जिसके लिए 1907 की एंग्लो–रूसी संधि के माध्यम से दोनों शक्तियों ने तिब्बत के मामलों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप न करने और चीन के माध्यम से संबंधों को संचालित करने पर सहमति व्यक्त की। तिब्बत के प्रति ब्रिटिश नीति का उद्देश्य प्रत्यक्ष शासन स्थापित करना नहीं, बल्कि उसे एक सामरिक अवरोधक क्षेत्र के रूप में बनाए रखना था, जहाँ ब्रिटिश भारत के हित सुरक्षित रह सकें। इस उद्देश्य से ब्रिटेन ने व्यापारिक केंद्रों, राजनीतिक एजेंसियों और कूटनीतिक समझौतों के माध्यम से तिब्बत में अपना प्रभाव बढ़ाया। इस प्रकार चीन, रूस और तिब्बत के संदर्भ में ब्रिटिश कूटनीति का मूल आधार सामरिक सुरक्षा, व्यापारिक हितों की रक्षा और एशियाई शक्ति–संतुलन बनाए रखना था, जिसने आगे चलकर हिमालयी सीमा–राजनीति और आधुनिक दक्षिण एशियाई भू–राजनीति को गहराई से प्रभावित किया।[35]

औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश भारत द्वारा अपनाई गई हिमालयी नीति, तिब्बत संबंधी कूटनीति और सीमा–निर्धारण प्रक्रियाओं का गहरा प्रभाव समकालीन भारतचीन संबंधों पर दिखाई देता है। ब्रिटिश शासन ने तिब्बत को भारत और चीन के मध्य एक सामरिक अवरोधक क्षेत्र के रूप में देखा तथा अपनी सुरक्षा और साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति के लिए व्यापारिक समझौतों, राजनीतिक मिशनों और सीमा समझौतों का सहारा लिया। 1914 के शिमला सम्मेलन में निर्धारित मैकमोहन रेखा इसी औपनिवेशिक विरासत का प्रमुख उदाहरण है, जिसे भारत ने स्वतंत्रता के बाद अपनी अंतरराष्ट्रीय सीमा का आधार माना, जबकि चीन ने इसकी वैधता को स्वीकार नहीं किया।[36] तिब्बत की राजनीतिक स्थिति, चीन के साथ उसके संबंध और ब्रिटिश काल में निर्धारित सीमाएँ आज भी भारत–चीन सीमा विवाद के प्रमुख ऐतिहासिक आधार हैं। औपनिवेशिक नीतियों ने हिमालयी क्षेत्र को केवल भौगोलिक सीमा नहीं, बल्कि सामरिक सुरक्षा क्षेत्र के रूप में विकसित किया, जिसके कारण स्वतंत्र भारत की विदेश और सुरक्षा नीति भी प्रभावित हुई। तिब्बत, सीमा–निर्धारण और क्षेत्रीय संप्रभुता से जुड़े प्रश्नों पर भारत और चीन के बीच उत्पन्न तनावों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ब्रिटिश कालीन नीतियों से जुड़ी हुई है। इस प्रकार औपनिवेशिक विरासत ने आधुनिक भारत–चीन संबंधों को जटिल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और वर्तमान कूटनीतिक संबंधों, सीमा विवादों तथा क्षेत्रीय शक्ति–संतुलन को समझने के लिए औपनिवेशिक नीतियों का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।37

ब्रिटिश भारत और तिब्बत के मध्य संबंध औपनिवेशिक काल में केवल व्यापारिक संपर्कों तक सीमित नहीं थे, बल्कि वे व्यापक सामरिक, राजनीतिक और कूटनीतिक हितों से गहराई से जुड़े हुए थे। तिब्बत की भौगोलिक स्थिति, मध्य एशिया के निकटता और भारत की उत्तरी सुरक्षा के कारण ब्रिटिश साम्राज्य ने इसे एक महत्वपूर्ण सामरिक क्षेत्र के रूप में देखा। वॉरेन हेस्टिंग्स और जॉर्ज बोगल के प्रारंभिक मिशनों से लेकर यंगहसबैंड अभियान, 1904 के ल्हासा समझौते, 1906 एवं 1907 के समझौतों तथा 1914 के शिमला सम्मेलन तक ब्रिटिश नीति का मुख्य उद्देश्य तिब्बत में अपने प्रभाव को स्थापित करना और रूस तथा चीन के प्रभाव को संतुलित करना था। कालिम्पोंग, ग्यांत्से, याटुंग और गार्टोक जैसे व्यापारिक केंद्रों के माध्यम से ऊन, नमक, चाय, घोड़ों एवं अन्य वस्तुओं का व्यापार विकसित हुआ, जिसने भारत–तिब्बत आर्थिक संबंधों को मजबूत किया। साथ ही, ब्रिटिश सामरिक नीतियों और सीमा–निर्धारण प्रक्रियाओं, विशेषकर मैकमोहन रेखा, ने आधुनिक भारत–चीन संबंधों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार की। इस प्रकार ब्रिटिश भारत–तिब्बत संबंध औपनिवेशिक भू–राजनीति, व्यापारिक हितों और साम्राज्यवादी सुरक्षा रणनीति का जटिल मिश्रण थे, जिनका प्रभाव आज भी हिमालयी क्षेत्र की राजनीति, सीमा विवादों और दक्षिण एशियाई शक्ति–संतुलन में देखा जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. बेल, चार्ल्स, तिब्बत: पास्ट एंड प्रेजेंट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1924, पृ. 356.
2. वही, पृ. 304–305.
3. वही, पृ. 565–566.
4. फ्रेजर, डेविड, द मार्चेज ऑफ द ब्रिटिश आर्मी इन तिब्बत, लंदन, 1906, पृ. 287.
5. यंगहसबैंड, फ्रांसिस, द हार्ट ऑफ ए कॉन्टिनेंट: ए नैरेटिव ऑफ ट्रैवल्स इन मंचूरिया, सेंट्रल एशिया एंड तिब्बत, जॉन मरे, लंदन, 1896, पृ. 452.
6. यंगहसबैंड, फ्रांसिस, इंडिया एंड तिब्बत: ए हिस्ट्री ऑफ द रिलेशंस बिटवीन द टू कंट्रीज, जॉन मरे, लंदन, 1910, पृ. 318–320.

7. लैंडन, पर्सी, ल्हासा: एन अकाउंट ऑफ द कंट्री एंड पीपल ऑफ सेंट्रल तिब्बत एंड द ब्रिटिश मिशन ऑफ 1903:04, हर्स्ट एंड ब्लैकेट, लंदन, 1905, पृ. 590.
8. गोल्डस्टीन, मेल्विन सी., ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न तिब्बत, 1913–1951: द डिमाइज ऑफ द लामाइस्ट स्टेट, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, 1989, पृ. 898.
9. गोल्डस्टीन, मेल्विन सी., द स्नो लायन एंड द ड्रैगनरू चाइना, तिब्बत एंड द दलाई लामा, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, 1997, पृ. 152–153.
10. रिचर्डसन, ह्यूग ई., तिब्बत एंड इट्स हिस्ट्री, शम्भाला पब्लिकेशंस, बोस्टन, 1984, पृ. 310.
11. शाक्य, त्सेरिंग, द ड्रैगन इन द लैंड ऑफ स्नोज: ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न तिब्बत सिंस 1947, पिमलिको, लंदन, 1999, पृ. 592.
12. हिल, जॉन ई., द सिल्क रोड इन वर्ल्ड हिस्ट्री, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 2015, पृ. 240–242.
13. फिशर, मार्गरेट डब्ल्यू., रोज, लियो ई. एवं हटेनबैक, रॉबर्ट ए., हिमालयन बैटलग्राउंड: सिनो–इंडियन रायवलरी इन लद्दाख, प्रेगर पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, 1963, पृ. 350–352.
14. मैक्सवेल, नेविल, इंडियाज़ चाइना वार, जोनाथन केप, लंदन, 1970, पृ. 432–435.
15. स्मिथ, वॉरेन डब्ल्यू., तिब्बतन नेशन: ए हिस्ट्री ऑफ तिब्बतन नेशनलिज्म एंड सिनो–तिब्बतन रिलेशंस, वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर, 1996, पृ. 732.
16. हिल, जॉन ई., पूर्वोक्त, पृ. 280–282.
17. स्नेलग्रोव, डेविड एवं रिचर्डसन, ह्यूग, ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ तिब्बत, प्रेगर पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, 1968, पृ. 272.
18. अरिस, माइकल, द तिब्बतन स्टडीज रीडर, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, 2001, पृ. 540.
19. हटनबैक, रॉबर्ट ए., तिब्बत एंड द ब्रिटिश राज: द फ्रंटियर पॉलिसी ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, 1966, पृ. 286.
20. नाथ, राम, हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश रिलेशंस विद तिब्बत, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली, 1968, पृ. 215.
21. डास, रजत कांता, ब्रिटिश पॉलिसी इन तिब्बत एंड द हिमालयाज, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, 1985, पृ. 250.
22. चटर्जी, बी. बी., ट्रेड एंड कॉमर्स इन द हिमालयाज, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता, 1977, पृ. 220–222.
23. भारत सरकार, भारत और पड़ोसी देशों से संबंधित संधियाँ, समझौते एवं सनदें, भारत सरकार प्रेस, कलकत्ता, 1909, पृ. 650.
24. वही, पृ. 420.
25. ब्रिटिश संसद, तिब्बत अभियान एवं एंग्लो–तिब्बत संबंधी संसदीय पत्र, लंदन, 1904द्1914, पृ. 500–502.
26. कोहेन, स्टीफन पी., इंडिया: इमर्जिंग पावर, ब्रूकिंग्स इंस्टीट्यूशन प्रेस, वॉशिंगटन डी.सी., 2001, पृ. 320.
27. ब्राउन, जूडिथ एम., मॉडर्न इंडियारू द ओरिजिन्स ऑफ एन एशियन डेमोक्रेसी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1994, पृ. 480.
28. मेटकाफ, थॉमस आर., एन इम्पीरियल विजन: इंडियन आर्किटेक्चर एंड ब्रिटेन्स राज, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, 1989, पृ. 280.
29. कोपलैंड, इयान, द ब्रिटिश राज एंड इंडियन नेशनलिज्म, रूटलेज, लंदन, 2002, पृ. 260.
30. वान शायक, सैम, तिब्बत: ए हिस्ट्री, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवन, 2011, पृ. 368–370
31. डेविस, वेड, इनटू द साइलेंस: द ग्रेट वॉर एंड द कॉन्क्वेस्ट ऑफ एवरेस्ट, अल्फ्रेड ए. नॉफ, न्यूयॉर्क, 2011, पृ. 656.
32. कोहेन, स्टीफन पी., पूर्वोक्त, पृ. 327.
33. मार्शमैन, जॉन क्लार्क, द हिस्ट्री ऑफ इंडिया, लॉन्गमैन, लंदन, 1867, पृ. 740.
34. रिजले, हर्बर्ट, द गजेटियर ऑफ सिक्किम, बंगाल सचिवालय प्रेस, कलकत्ता, 1894, पृ. 300.
35. स्टीइन, मार्क ऑरेल, रुइन्स ऑफ डेजर्ट कैथे, मैकमिलन, लंदन, 1912, पृ. 546–548.
36. थॉम्पसन, पीटर, हिमालयन ट्रेड एंड पॉलिटिक्स, रूटलेज, लंदन, 1998, पृ. 290.
37. वुडमैन, डोरोथी, हिमालयन फ्रंटियर्स: ए पॉलिटिकल रिव्यू ऑफ ब्रिटिश इंडिया एंड तिब्बत, बैरियर पब्लिकेशन, लंदन, 1969, पृ. 410–412.